

मुसलमानों और गैर मुस्लिमों के बीच आपसी सम्बन्ध  
इस्लामी शिक्षाओं की रोशनी में

- ☆ बहुधर्मी समाज से सम्बन्धित इस्लामी तसुव्वर
- ☆ गैर-मुस्लिमों के बीच सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक सम्पर्क के आदेश, और
- ☆ इस्लाम में धार्मिक उदमता आदि को स्पष्ट करने के साथ-साथ इस्लाम के सम्बन्ध में जो ग़लतफ़हमियां पायी जाती हैं, उनके निवारण की कोशिश

मौलाना ख़ालिद सैफुल्लाह रहमानी

अनुवाद

अमामा साबरी

ईफ़्रा पब्लिकेशन

## बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

अल्लाह तआला ने इन्सानों को बुद्धि एवं विवेक दिया है और उसके अन्दर सोच-विचार की क्षमता प्रदान की है। इसी लिए एक इन्सान और दूसरे इन्सान के बीच विचारों में मतभेद पैदा होता रहता है। यही कारण है कि दुनिया के सारे लोग एक ही धर्म के नुयायी नहीं हैं। सैकड़ों धर्म हैं जिनके अनुयायी दुनिया में मौजूद हैं और मौजूद रहेंगे।

कुरआन मजीद की नज़र में यद्यपि सच्चा दीन एक ही है, लेकिन खुदा को यह मन्ज़ूर नहीं कि सारे लोग एक ही धर्म के अनुयायी हो जाएं। यदि अल्लाह की इच्छा यही होती तो सब के सब इस्लाम ही पर क़ायम होते:

وَلَوْ شَاءَ رَبُّكَ لَجَعَلَ النَّاسَ أُمَّةً وَاحِدَةً وَلَا يَزَالُونَ مُخْتَلِفِينَ ،  
إِلَّا مَن رَّحِمَ رَبُّكَ (هود)

“और यदि तुम्हारा रब चाहता तो वह सारे मनुष्यों को एक समुदाय (धार्मिक गिरोह) बना देता, किन्तु लोग एक दूसरे से विभेद करते ही रहेंगे, सिवाय उनके जिन पर तुम्हारा रब दया करे।”

(कुरआन, 11: 118-119)

## बहुधर्मी समाज और इस्लाम

इस तरह कुरआन मजीद दीन में विभेद को स्वीकार करता है और एक ऐसे बहुधर्मी समाज को मान्यता प्रदान करता है जिसमें विभिन्न

धर्मों के अनुयायी रहते हों। आम तौर से बहुधार्मिक समाज की कल्पना पश्चिमी समाज की देन समझी जाती है। लेकिन यदि विचार किया जाए तो उसकी बुनियाद इस्लाम ने रखी है।

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) हिजरत से पहले यही चाहते थे कि मक्कावासी यदि इस्लाम स्वीकार न करें तो कम से कम मुसलमानों को इस्लाम पर अमल करने और उसके प्रचार-प्रसार की अनुमति दे दें। अतएव मक्का के लोगों ने अल्लाह के रसूल (सल्ल०) को संधि के लिए दो फ़ार्मूले पेश किये:

एक यह कि दिनों को बांट लें। कुछ दिन हमारे देवी-देवताओं की पूजा हुआ कर, जिसमें आप की सम्मिलित हों, और कुछ दिन आपके खुदा की इबादत हो और उसमें हम की शामिल हों।

दूसरा फ़ार्मूला यह था कि दिनों का बटवारा न हो, बल्कि प्रति दिन आपके खुदा की इबादत हो और हमारे देवी-देवताओं की भी। और इन दोनों की इबादत में आप भी सम्मिलित हों और हम सब भी।

क़ुरआन मजीद ने बताया कि ये दोनों फ़ार्मूले व्यावहारिक नहीं हैं। चूंकि तौहीद (यानी एकेश्वरवाद) और शिर्क एक दूसरे के विपरीत हैं, जिस तरह दिन और रात, या प्रकाश और अंधकार एक साथ जमा नहीं हो सकते, उसी तरह तौहीद और शिर्क का जमा होना भी संभव नहीं, अलबत्ता क़ुरआन मजीद ने एक तीसरी फ़ार्मूला पेश किया।

यदि मक्का वाले ईमान लाने को तैयार नहीं हैं तो यह बात व्यावहारिक हो सकती है कि मुश्रिकीन अपने दीन पर चलें और मुसलमानों को उनके मज़हब पर चलने की अनुमति दें।

“तुम्हारे लिए तुम्हारा धर्म है और मेरे लिए मेरा धर्म” ।

(कुरआन, 109:6)

इस तरह एक बहुधर्मिक समाज अस्तित्व में आ सकता है जिसमें विभिन्न धर्मों के मानने वाले सहअस्तित्व के उसूल पर शांति के साथ जीवन व्यतीत करें।

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) के जीवन उसकी दूसरी मिसाल हब्शा के हिजरत की घटना है। हब्शा का सरकारी मज़हब ईसाइयत था। यद्यपि 6 हिजरी के बाद अल्लाह के रसूल (सल्ल०) के दावती पत्र से प्रभावित होकर हब्शा के बादशाह इस्हिमा नजाशी ने इस्लाम कुबूल की, उस समय बादशाह ईसाई था और नजाशी के इस्लाम कुबूल करने के बाद भी हब्शा के लोग या पूरे शासक दिल के ईमान लाने का उल्लेख नहीं मिलता इसी लिए अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने नजाशी की मृत्यु पर गायबाना जनाज़े की नमाज़ अदा की।

अलबत्ता नजाशी एक न्यायप्रिय शासक था और उसने मुसलमानों को धार्मिक स्वतंत्रता और नागरिकों के अन्य अधिकारों के साथ हब्शा में रहने की अनुमति दी थी। इसी लिए हब्शा हिजरत करने वाले सहाबियों (रज़ि०) ने हब्शा की सरकार के साथ हमेशा हार्दिक सहानुभूति व्यक्त की और जब कभी उपयुक्त शत्रुओं ने हमला किया और युद्ध की स्थिति उत्पन्न हुई तो उनके लिए दुआ भी फ़रमायी।

बहुधर्मी समाज की तीसरी मिसाल “मिसाक्रे मदीना” है। जब आप (सल्ल०) ने मदीना जिरत फ़रमायी तो उस समय मदीना में तीन क़ौमों आबाद थी। मुसलमान, यहूदी और मुश्रिक। अतएव आपने एक

संधि करायी जिसका सार यह था कि मदीना में रहने वाले तमाम लोगों को अपने अपने धर्म पर चलने की अनुमति होगी। लेकिन जब मदीना पर कोई बाहरी दुश्मन हमला करेगा तो सब मिलकर मदीना की रक्षा करेंगे।

इस संधि पर आप (सल्ल०) ने यहूदियों और अरबों के सभी कबीलों से हस्ताक्षर करवाये, और फिर मदीना के मुश्रिक लोग धीरे-धीरे मुसलमान हो गये और यहूदियों के साथ आप (सल्ल०) ने इस संधि का उस समय तक क़ायम रखा, जब तक उनकी ओर से खुली हुई बगावत और वादा खिलाफ़ी की नौबत नहीं आ गयी।

इस तरह कम से कम यह तीन मिसालें अल्लाह के रसूल (सल्ल०) के पाक जीवनी में ज़रूर मिलती हैं, जिस में विभिन्न धर्मों के लोगों को अपने धर्म पर अमल करतु हुए एक दूसरे के साथ रहने का अवसर मिला। उनमें से विशेषकर मक्का और हब्शा की मिसालें मुस्लिम अल्पसंख्यकों का बहुसंख्यकों के साथ ताल्लुक्रात की बुनियाद उपलब्ध कराती है।

फिर इस बहुधर्मी समाज की कल्पना को आगे बढ़ाते हुए अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने ग़ैर-मुस्लिम अल्पसंख्यकों के अधिकार सुनिश्चित किये और उन्हें न केवल जान-व-माल इज्जतो आबरू, आर्थिक संधर्भ आदि में स्वतंत्रता प्रदान की, बल्कि उन्हें धर्म पर चलने का पूरा पूरा हक़ दिया गया। यह कार्यशैली उस समय के प्रचलित रस्मों रिवाज से पूरी तरह भिन्न था जिस में धार्मिक अल्पसंख्यकों को कोई अधिकार हासिल नहीं होता था।

यही कारण है कि इतिहास में जितनी भी मुस्लिम हुकूमतें क़ायम

हुई, वहां विभिन्न धर्म के लोगों ने अम्नों सुकून के साथ जीवन व्यतीत किये और स हुकूमत को अपने लिए साया-ए-रहमत समझा।

सीरिया से लेकर स्पेन तक हर जगह ईसाइयों को पूरी आज़ादी दी गयी। भारत में हिन्दू भाइयों के अधिकारों विशेषकर उनकी धार्मिक स्वतंत्रता का पूरा ख्याल रखा गया। यहूदी जब ईसाई दुनिया के जुल्मों अत्याचार का निशाना बन रहे थे और उन्हें विभिन्न इलाकों में मारे मारे फिरना पड़ता था, उस समय उनके लिए सबसे सुरक्षित पनाहगार मुस्लिम जगत ही था। मुस्लिम हुकूमत में वे अपनी तमाम धार्मिक पहचान के साथ सम्मानित जीवन व्यतीत कर रहे थे।

इस लिए इस्लामी शरीअत में मुसलमानों के लिए अल्पसंख्यक समुदाय की हैसियत से ज़िन्दगी गुज़ारने के उसल भी मौजूद हैं और एक ऐसे बहुधर्मी समाज की कल्पना थी, जिसमें मुसलमानों की सत्ता में ग़ैर-मुस्लिम हज़रात पूरी आज़ादी, मानवीय अधिकार और इज़्जते नफ़्स के साथ जीवन व्यतीत कर सकें।

### **संपूर्ण मानव जीति-एक कुटुम्ब**

इस सिलसिले में बुनियादी बात यह है कि क़ुरआन मजीद के अनुसार सम्पूर्ण मानव-जाति की शुरूआत एक ही व्यक्ति के अस्तित्व से हुआ है। अल्लाह ने उसी हस्ती से उसका जोड़ा पैदा किया और उसी जोड़े से सम्पूर्ण मानव-जाति अस्तित्व में आयी।

“ऐ लोगो! अपने रब से डरो, जिसने तुम को एक ही जान से पैदा किया है और उसी से उसका जोड़ा पैदा किया है और इन दोनों से बहुत से मर्द और औरत को अस्तित्व प्रदान किया”।

(कुरआन, 4:1)

इस तरह इस्लाम की दृष्टि में पूरी मानवता एक ही कुटुम्ब और परिवार है। ये एक ही पेड़ की शाखाएं और एक ही गुलदस्ता के फूल हैं। इससे हमें मानवीय भाईचारे का सबक मिलता है। जैसे एक मुसलमान दूसरे मुसलमान का भाई है, उसी तरह हा इन्सान मानवीय रिश्ते से हमारा भाई है और हमारे व्यापक परिवार का एक हिस्सा है। यह अपनापन और भाईचारगी हमें मुहब्बत और प्रेम का संदेश देती है और हमें याद दिलाती है कि हमें प्रत्येक व्यक्ति से प्रेम एवं सहानुभूति होनी चाहिए।

### मानवीय मूल्यों का सम्मान

मानवीय सम्बन्धों की दूसरी बुनियाद इंसानी शराफ़त और मानवीय मूल्यों का सम्मान है। इन्सान को मानवीय हैसियत से अल्लाह तआला ने प्रतिष्ठित करार दिया है।

وَلَقَدْ كَرَّمْنَا بَنِي آدَمَ.

“हमने आदम की सन्तान को श्रेष्ठता प्रदान की”।

(कुरआन, 17: 70)

उसके शरीर को बेहतरीन सांचे में ढाला है:

لَقَدْ خَلَقْنَا الْإِنْسَانَ فِي أَحْسَنِ تَقْوِيمٍ.

“निस्सन्देह हमने मनुष्य को सर्वोत्तम संरचना के साथ पैदा किया”।

(कुरआन, 95: 4)

यह सम्मान और श्रेष्ठता सम्पूर्ण मानव - जाति के लिए है।

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने इस सच्चाई को कुछ इस तरह सपष्ट किया:

एक बार एक यहूदी का जनाजा जा रहा था। आप (सल्ल०) खड़े हो गये। लोगों ने आप (सल्ल०) ने फ़रमाया कि जान तो उसमें भी है।

(बुखारी, हदीस संख्या: 1312)

जंगे अहज़ाब के अवसर पर एक मुशरिक मुसलमानों के हाथों मारा गया। मक्का वालों ने यह इच्छा व्यक्त की कुछ राशि लेकर लाश अनेक हवाले कर दें। तो आप (सल्ल०) ने बिना कोई रक़म लिए उसकी लाश वापस कर दी क्योंकि इन्सान के लाश की क़ीमत वसूल करना मानवीय सम्मान के अनुकूल नहीं।

इस्लाम से पहले युद्ध का कोई उसूल नहीं था। लोग मृतकों के अंग भंग करके हार पहनते। और अपने प्रतिशोध की ज्वाला को बुझाते थे। इस्लाम ने एक तो युद्ध से भरसक बचने का आदेश दिया है। लेकिन यदि उसकी नौबत आ ही जाये तो युद्ध के सम्मानजनक क़ानून बनाये। उन क़ानूनों में यह भी शामिल है कि यदि कोई व्यक्ति पकड़ में आ जाए तो उसे प्रताड़ित करते हुए हत्या न की जाए, और जो मारे जाएं उनके अंग भंग न किये जाएं क्योंकि यह मानवीय श्रेष्ठता के विरुद्ध है।

इस्लाम इन्सान की हैसियत से किसी ग़ैर-मुस्लिम की तौहीन को भी जायज़ नहीं समझता। कुछ लोगों को यह ग़लतफ़हमी है कि ग़ैर-मुस्लिम के लिए “काफ़िर” और “ज़िम्मी” का शब्द का प्रयोग करके उन्हें तुस्य एवं हक़ीर साबित किया गया है। उसी तरह आज कल कुछ ग़ैर-मुस्लिम भाई “काफ़िर” शब्द को तौहीन करने वाला और हक़ारत अंगेज़ ख़्याल करते हैं। यह केवल ग़लतफ़हमी और प्रोपगैन्डा है।



‘कुफ़्र’ के शाब्दिक अर्थ इन्कार के हैं। क़ुरआन मजीद में यह शब्द इन्कार के अर्थ में ही इस्तेमाल हुआ है। अतएव आखिरत (यानी परलोक) को नकारने वालों के बारे में कहा गया है:

“وَهُمْ بِالْآخِرَةِ هُمْ كَافِرُونَ”

“जो अल्लाह को नहीं मानते और जो आखिरत (परलोक) का इन्कार करते हैं” ।

(क़ुरआन, 12: 37)

मक्का वालों को इन बातों से इन्कार था, जिसकी दावत अल्लाह के रसूल (सल्ल0) दिया करते थे। इस लिए वे कहते थे:

“إِنَّا بِمَا أُرْسِلْتُمْ بِهِ كَافِرُونَ”

“आप जिस दीन को लेकर भेजे गये हैं, हम उसका इन्कार करते हैं” ।

(क़ुरआन, 43: 24)

इसी तरह जादू के इन्कार पर भी ‘कुफ़्र’ शब्द का इस्तेमाल हुआ है। अतएव कुछ नबियों के विरोधियों का कथन नक़ल किया गया है:

“قَالُوا هَذَا سِحْرٌ وَإِنَّا بِهِ كَافِرُونَ”

“यह तो जादू है। और हम तो इसका इन्कार करते हैं”

(क़ुरआन, 43: 30)

अर्थात् ‘काफ़िर’ का अर्थ है इन्कार करने वाला यानी ऐसा व्यक्ति जो तौहीद (एकेश्वरवाद) और इस्लामी शिक्षाओं को स्वीकार न करता हो। इस तरह यह शब्द ग़ैर-मुस्लिम के समानार्थक है। अतः यह एक सच्चाई का इज़हार है न कि किसी व्यक्ति की तौहीन।

उसकी वाज़ेह दलील यह है कि क़ुरआन मजीद में विभिन्न अवसरों पर उस दौर के ग़ैर-मुस्लिमों को 'काफ़िर' कहकर सम्बोधित किया गया, लेकिन उन लोगों ने उसका बुरा नहीं माना, यदि यह शब्द तोहीन जायेज़ होता तो निश्चित रूप से उन्हें इस सम्बोधन पर आपत्ति होती।

यद्यपि इस शब्द से किसी की तौहीन नहीं होती, फिर भी फ़क़्रीहों ने लिखा है कि यदि किसी को "ऐ काफ़िर" कहने से तकलीफ़ होती हो, तो उस व्यक्ति को इस तरह सम्बोधित न किया जाए। और यदि करेगा तो गुनहगार होगा।

ولو قال لذمي : يا كافر ! يَأْتِمُّ ان شق عليه (الأشياء والنظائر).

“यदि किसी ने किसी ज़िम्मी को 'ऐ काफ़िर' कहकर पुकारा और इससे उसे दुख पहुंचा तो ऐ काफ़िर कहने वाला व्यक्ति गुनहगार होगा”।

(अल-अशवाह वन नज़ाइर, 2572)

### ‘ज़िम्मी’ कोई ग़ाली नहीं

इसी तरह अरबी भाषा में 'ज़िम्मा' का अर्थ 'संकल्प लेने' के हैं। 'ज़िम्मी' उस व्यक्ति को कहा जाता है जिसकी सुरक्षा की ज़िम्मेदारी ली जाए। अतएव अरबी भाषा के प्रसिद्ध शब्दकोष "लिसानुल अरब" में है:

رجل ذمي، معناه: له عهد

“ज़िम्मी” के अर्थ ऐसे व्यक्ति के हैं जिसकी सुरक्षा का संकल्प दोहराया गया हो”।

(लिसानुल अरब, 595)

इसी तरह अल्लामा इब्न असीर (रह0) इस बात पर रोशनी डालते हुए कहते हैं कि ग़ैर-मुस्लिम अल्पसंख्यकों को ज़िम्मी क्यों कहा जाता है।

वे लिखते हैं:

سمى أهل الذمة لدخولهم فى عهد المسلمين وأمانهم

“ज़िम्मी इस लिए नाम रखा गया है कि वे मुसलमानों के अहद और उनकी अमान में दाखिल हो जाते हैं”।

(अल-निहाय: 16882)

इस लिए यह केवल ग़लतफ़हमी है कि क़ुरआन मजीद और हदीसे नबवी (सल्ल०) में ग़ैर-मुस्लिमों के लिए तौहीन आमेज़ शैली अपनायी गयी है।

जहां तक मुसलमानों और ग़ैर-मुस्लिमों के आपसी सम्बन्धों की बात है तो इसकी व्याख्या चार शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती है।

- 1- सामाजिक सम्बन्ध
- 2- आर्थिक सम्बन्ध
- 3- राजनैतिक सम्बन्ध
- 4- धार्मिक सम्बन्ध

उपरोक्त सम्बन्धों के सिलसिलेमें हमें क़ुरआन और हदीस से विस्तार से रहनुमाई मिलती है।

### सामाजिक सम्बन्ध

لَا يَنْهَكُمُ اللَّهُ عَنِ الدِّينِ لَمْ يُفَاتِلُوكُمْ فِي الدِّينِ وَلَمْ يُخْرِجُوكُمْ مِنْ دِيَارِكُمْ أَنْ تَبَرُّوهُمْ وَتُقْسِطُوا إِلَيْهِمْ ، إِنَّ اللَّهَ يُحِبُّ الْمُقْسِطِينَ .

“अल्लाह तुम्हें इससे नहीं रोकता कि तुम उन लोगों के साथ अच्छा व्यावहार करो और उनके साथ न्याय करो, जिन्होंने तुमसे धर्म के मामले में युद्ध नहीं किया और न तुम्हें तुम्हारे अपने घरों से निकाला।

निस्सन्देह अल्लाह न्याय करने वालों को पसन्द करता है।”

(कुरआन, 60: 8)

### गैर-मुस्लिमों के साथ अच्छा सलूक

उपरोक्त आयत बहुत महत्व रखती है और इससे यह बात वाज़ेह है कि जो गैर-मुस्लिम तुम से लड़ते -झगड़ते न हों, मुसलमानों पर उनके साथ अच्छा सलूक करना ज़रूरी है। कुरआन मजीद में साफ़ कहा गया है कि किसी क्रौम का हिदायत के रास्ते पर आना और सच्चे दीन को स्वीकार करना अल्लाह तआला की मर्ज़ी पर निर्भर है, लेकिन उसकी वजह से किसी गिरोह के साथ सम्बन्ध न रखना और अच्छे व्यावहार से रुक जाना ठीक नहीं। मुसलमान उनके साथ जो बेहतर सलूक करेंगे, उन्हें बहरहाल उसका बदला मिलकर रहेगा।

لَيْسَ عَلَيْكَ هُدَاهُمْ وَلَكِنَّ اللَّهَ يَهْدِي مَنْ يَشَاءُ، وَمَا تُنْفِقُوا مِنْ  
خَيْرٍ فَلَا نُفْسِكُمْ، وَمَا تُنْفِقُونَ إِلَّا ابْتِغَاءَ وَجْهِ اللَّهِ، وَمَا تُنْفِقُوا مِنْ  
خَيْرٍ يُؤْتِ الْيَوْمَ إِلَيْكُمْ وَأَنْتُمْ لَا تظَلْمُونَ.

“उन्हें मार्ग पर ला देने का दायित्व तुम पर नहीं है, बल्कि अल्लाह ही जिसे चाहता है मार्ग दिखाता है। और जो कुछ भी माल तुम खर्च करोगे, वह तुम्हारे अपने ही भले के लिए होगा और तुम अल्लाह के (बताए हुए) उद्देश्य के अतिरिक्त किसी और उद्देश्य से खर्च न करो। और जो माल भी तुम खर्च करोगे, वह पूरा- पूरा तुम्हें चुका दिया जायेगा और तुम्हारा हक़ न मारा जायेगा”।

(कुरआन, 2: 272)

हज़रत अब्दुल्लाह बिन अब्बास (रज़ि0) से उल्लिखित है कि कुछ

अन्सार की बनू कुरैजा और बनू नज़ीर के यहूदियों से नज़दीकियां थीं। अन्सार उन पर इस लिए सदका नहीं किया करते थे कि जब ज़रूरतमन्द होंगे तो इस्लाम क़बूल कर लेंगे।

(तफ़सीर करतबी: 3373)

अल्लाह तआला ने उनके इस रवैये को पसन्द नहीं किया और फ़रमाया: उनकी हिदायत का ताल्लुक अल्लाह तआला से है, लेकिन तुमको उसकी वजह से अपना सहयोग के लिए बढ़ाया हुआ हाथ न खींचना चाहिए, क्योंकि तुमको तुम्हारे अनफ़ाक़ (मदद के लिए दी गयी सहयोग राशि) का बदला जरूर मिलेगा।

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) और आपके सहाबियों (रज़ि०) ने व्यावहारिक रूप में इसे बरत कर दिखाया। मक्का में ऐसा अकाल पड़ा कि लोग मुर्दार तक खने पर मजबूर हो गये। यह दौर मुसलमानों और मक्का के मुशिरक लोगों के बीच भारी मतभेद और गर्मा गर्मी का था। और उसके बावजूद आप (सल्ल०) ने मक्का के अकाल ग्रस्त मुशिरकों के लिए पांच सौ दीनार भेजे। यद्यपि उस समय स्वयं मदीना के मुसलमान सख्त आर्थिक तंगी के दौर से गुज़र रहे थे। इसके अलावा आप (सल्ल०) ने यह माल कुरैश के सरदार अबू सुफ़ियान और सफ़वान बिन उमैया को भेजी, जो मुसलमानों के विरोध में सबसे आगे आगे थे और मक्का के मुशिरकों का नेतृत्व कर रहे थे।

(दारुल कतार: 3023, बाबुल मसरफ़)

हज़रत उमर (रज़ि०) ने एक बूढ़े ग़ैर-मुस्लिम को देखा कि वह भीख मांग रहा था। जब हज़रत उमर (रज़ि०) ने उसका कारण जानना

चाहा तो उसने बताया कि हमें जिज़िया अदा करना है। हज़रत उमर (रज़ि0) ने बैतुल माल से उसकी पेंशन जारी कर दी और कहा:

“ما أنصفناك أكلنا شيبتك ، ثم نأخذ منك الجزية”

“हमने तुम्हारी जवानी को खाया और अब फिर तुमसे जिज़िया (टेक्स) वसूल करें, यह न्याय की बात नहीं” ।

(नस्बुरायह, 4543)

अतएव फ़कीहों के यहां इस पर करीब करीब आम सहमति है कि नफ़ल सदक़ा ग़ैर-मुस्लिमों को दिया जा सकता है। हनफ़ी मसलक में ज़कात के अलावा दूसरे वाजिब सदक़ा भी ग़ैर-मुस्लिमों को दिये जा सकते हैं।

(अदुर्लुल मुख्तार अला हामिश रदुल मख्तार)

## इन्सानी ज़िन्दगी का सम्मान एवं उसकी सुरक्षा

सामाजिक जीवन में सबसे महत्वपूर्ण मसला अम्न व अमान का है और अम्न व अमान का ताल्लुक जानो माल और इज्जतो आबरू से है। अतएव इस्लामी शरीअत में ग़ैर- मुस्लिमों की जानो-माल और इज्जतो आबरू को दी गयी है। इस सिलसिले में अल्लाह के रसूल (सल्ल0) ने यह उसूली बात बतायी कि: उनके खून हमारे खून की तरह और उनमे माल हमारे माल की तरह है:

دِمَائُهُمْ كَدِمَائِنَا ، وَأَمْوَالُهُمْ كَأَمْوَالِنَا۔

अतएव क़ुरआन मजीद में इंसानों की हत्या को पूरी तरह मना किया गया है:

لَا تَقْتُلُوا النَّفْسَ الَّتِي حَرَّمَ اللَّهُ إِلَّا بِالْحَقِّ۔

“किसी जीव की हत्या न करो, जिसे (मारना) अल्लाह ने हराम

ठहराया है” ।

(कुरआन, 17: 33)

एक और अवसर पर किसी उचित कारण के बिना एक व्यक्ति की हत्या को सम्पूर्ण मानवता की हत्या करार दिया गया है:

مَنْ قَتَلَ نَفْسًا بِغَيْرِ نَفْسٍ أَوْ فَسَادٍ فِي الْأَرْضِ فَكَأَنَّمَا قَتَلَ النَّاسَ  
جَمِيعًا.

“जिसने किसी व्यक्ति को किसी के खून का बदला लेने या धरती में फ़साद फैलाने के अतिरिक्त किसी और कारण से मार डाला तो मानों उसने सारे ही इंसानों की हत्या कर डाली” ।

(कुरआन, 5: 32)

क्योंकि यदि कोई व्यक्ति एक निर्दोष व्यक्ति की हत्या कर सकता है तो वह सम्पूर्ण मानव-जाति, किसी भी व्यक्ति की हत्या कर सकता है। अतः वह पूरी इंसानियत का क्रातिह है। इन आयतों में मुसलमान और ग़ैर-मुस्लि की कोई क़ैद नहीं है, बल्कि किसी भी इंसान की हत्या को मना किया गया है। अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने फ़रमाया है:

مَنْ قَتَلَ مُعَاهِدًا لَمْ يَرِحْ رَائِحَةَ الْجَنَّةِ، وَإِنَّ رِيحَهَا يُوجَدُ مِنْ  
مَسِيرَةِ أَرْبَعِينَ عَامًا.

“जिसने किसी मुआहिद (वह ग़ैर-मुस्लिम जिससे शान्तिपूर्ण ज़िन्दगी गुज़ारने की संधि की गयी हो) की हत्या की, वह जन्नत की खुशबू भी नहीं पायेगा, यद्यपि स्वर्ग की सुगन्ध चालीस वर्ष की दूरी से महसूस की जा सकती है।”

(बुखारी, अन अब्दुल्लाह बिन उमर रज़ि० हदीस संख्या, 3166)

यदि कोई मुसलमान किसी ग़ैर-मुस्लिम की हत्या कर दे तो मुसलमानों को भी उसके क्रसास में हत्या कर दी जायेगी, क्योंकि कुरआन मजीद में क्रसास का यही उसूल बतलाया है।

“الْنَفْسُ بِالنَّفْسِ”-

“जो व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का क्रातिल हो, वह उसके बदले क़त्ल किया जायेगा”

(कुरआन, 5: 45)

उपरोक्त आयत में मुसलमान और ग़ैर-मुस्लिम में कोई विभेद नहीं है। हज़रत अब्दुल्लाह बिन उमर (रज़ि०) से उल्लिखित है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल०) के दौर में एक ग़ैर-मुस्लिम (ज़िम्मी) के क्रसास में एक मुसलमान की हत्या की गयी।

(अब्दुर्रज़ाक: 10110)

इमाम शाफ़ई (रह०) ने हज़रत अली (रज़ि०) से नक़ल किया है कि उन्होंने कुछ ज़िम्मियों की हत्या करने वाले मुसलमानों की हत्या के आदेश जारी किया।

(मुस्नद इमाम शाफ़ई, अल सुनन बेहक्री, 4312)

यदि मृतकों के वारिस क़ैद की सज़ा को माफ़ कर दें या जान बुझ कर हत्या न की गयी हो, बल्कि अनजाने में उसकी हत्या हो गयी हो, तो इन परिस्थितियों में खून-बहा (देत) वाजिब होता है। अतएव खून बहा भी मुसलमान और ग़ैर-मुस्लिमों का सम्मान होता है। हज़रत अब्दुल्लाह बिन उमर (रज़ि०) से उल्लिखित है कि आप (सल्ल०) ने ग़ैर-मुस्लिम की देत भी मुसलमानों की तरह ही अदा की।



(सुनन दार कुली, किताबुल हुद्द)

हज़रत अब्दुल्लाह बिन अब्बास (रज़ि०), हज़रत अबू हु़रैरा (रज़ि०), हज़रत उसामा बिन ज़ैद (रज़ि०) और अन्य सहाबियों से भी यही उल्लिखित है कि मुसलमान और ग़ैर-मुस्लिम की देत (खून-बहा) बराबर होगी। अल्लामा ज़ैलई (रह०) ने विस्तार से इन रिवायतों को नक़ल किया है।

(नसबूरया: 4680, 360)

### सम्पत्तियों का सम्मान:

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने जो उसूल सुनिश्चित किया है कि ग़ैर-मुस्लिमों की जानें मुसलमानों की जानों की तरह हैं और उनके माल मुसलमानों के मालों की तरह हैं। इससे ज्ञात हुआ कि ग़ैर-मुस्लिमों की सम्पत्ति भी उसी तरह सम्मान के क़ाबिल है जैसा कि मुसलमानों की सम्पत्ति। बिना अनुमति के न किसी मुसलमान का माल लिया जा सकता है न किसी ग़ैर-मुस्लिम का।

“إِلَّا أَنْ تَكُونَ تِجَارَةً عَنْ تَرَاضٍ مِّنْكُمْ”-

“ऐ ईमान लाने वालो! आपस में एक दूसरे के माल ग़लत तरीक़ से न खाओ- यह और बात है कि तुमहारी आपस की रज़ामन्दी से कोई सौदा हो।”

(क़ुरआन, 4: 29)

खैबर की विजय के अवसर पर कुछ मुसलमान सैनिकों ने यहूदियों के जानवर ज़िब्ह कर दिये और कुछ फल खा लिए। अल्लाह के रसूल (सल्ल०) को जब इसकी सूचना मिली तो आप (सल्ल०) ने लोगों को

सम्बोधित करते हुए कहा:

أَلَا مَنْ ظَلَمَ مُعَاهِدًا أَوْ انْتَقَصَهُ أَوْ كَلَّفَهُ فَوْقَ طَاقَتِهِ أَوْ أَخَذَ  
مِنْهُ شَيْئًا بَغَيْرِ طَيْبِ نَفْسٍ ، فَأَنَا حَاجِبُهُ يَوْمَ الْقِيَامَةِ .

“जान लो! जिसने किसी मुआहिद पर जुल्म किया, उसका हक मारा, या उसे उसके सामर्थ्य से ज्यादा बोझ डाला, या उससे कोई उसकी मर्जी के बगैर ले ली, तो कियामत के दिन मैं उसका फ़रीक हूंगा”

(अबू दाऊद, हदीस संख्या: 3053)

इस्लामी क़ानून नज़र में चोर की सज़ा हाथ काटना है। जैसे मुसलमान का माल चोरी करने में हाथ काटा जायगा, उसी तरह यदि कोई मुसलमान चोर ग़ैर-मुस्लिम का माल चोरी कर ले तो उस स्थिति में भी उसका हाथ काटा जायेगा।

अल्लामा इब्न क़ुदामा मुकदसी (रह0) ने यह लिखते हुए व्याख्या की है कि इस मामले में सभी सहमत हैं। इससे ज्ञात हुआ कि इस्लाम की नज़र में मुसलमान और ग़ैर-मुस्लिम की सम्पत्ति समान रूप से क़ाबिले एहतिराम है।

### इज़ज़त आबरू की सुरक्षा :

यही मामला इज़ज़त व आबरू की सुरक्षा का है। अल्लाह के रसूल (सल्ल0) ने मज़हब को भेद-भाव किये बिना हर बड़े का सम्मान करने का आदेश दिया है। और हर छोटे पर प्रेम और स्नेह की ताक़ीद की है। मोमिनों को सम्बोधित करते हुए अल्लाह तआला कहता है:

يَا أَيُّهَا الَّذِينَ آمَنُوا لَا يَسْخَرُ قَوْمٌ مِّنْ قَوْمٍ عَسَىٰ أَنْ يَكُونُوا خَيْرًا

مَنْهُمْ وَلَا نِسَاءً مِّنْ نِّسَاءِ عَسَىٰ أَنْ يَكُونَ خَيْرًا مِّنْهُنَّ وَلَا تَلْمِزُوا  
 أَنْفُسَكُمْ وَلَا تَنَابَزُوا بِاللُّقَابِ-

“ऐ लोगो जो ईमान लाए हो! न पुरुषों का कोई गिरोह दूसरे पुरुषों की हंसी उड़ाए, संभव है वे उनसे अच्छे हों और न स्त्रियां स्त्रियों की हंसी उड़ाएं, संभव है वे उने अच्छी हों, और न अपनों पर ताने कसे और न आपस में एक-दूसरे को बुरी उपाधियों से पुकारो। ईमान के पश्चात अवज्ञाकारी का नाम जुड़ना बहुत ही बुरा है। और जो व्यक्ति बाज़ न आए, तो ऐसे ही व्यक्ति ज़ालिम हैं।

(कुरआन, 49: 11)

उसी तरह पुरुषों से कहा गया है कि वे अपनी निगाहों और शर्मगाहों की रक्षा करें और यही आदेश मुस्लिम औरतों को भी दिया गया।

(कुरआन, 24: 31)

यह भी एक व्यापक आदेश है और उसमें मुसलमान और गैर-मुस्लिम की कोई शर्त नहीं है। यानी गैर-मुस्लिम की इज्जत व आबरू का भी वही महत्व है जो मुसलमानों का है। इफ़्रत और पाकदामनी को आहत करने वाली चीज़ें हराम हैं, चाहे मुसलमानों के साथ की जाएं या गैर-मुस्लिमों के साथ, हर हाल में हराम हैं।

जो सज़ा कि मुस्लिम महिला के साथ बलात्कार करने की है, वही सज़ा गैर-मुस्लिम महिला के साथ बलात्कार करने की भी है। इससे यह स्पष्ट है कि इज्जतो आबरू की दृष्टि से गैर-मुस्लिम भाइयों को भी वही दर्जा हासिल है, जो मुसलमानों को हासिल है।

## खुशी और ग़म में साझेदारी :

सामाजिक सम्बन्धों की परिधी में खाना, खिलाना, पढना, पढाना आपसी सम्बन्ध, खुशी और ग़म के अवसर पर एक दूसरे का साथ देना आदि मामले आते हैं। इस्लाम ने इन तमाम बातों में ग़ैर-मुस्लिमों के साथ भी खुशगवार बरताव का आदेश दिया है। अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने ग़ैर-मुस्लिमों की दावत कुबूल फ़रमायी है। (सही बुखारी, हदीस संख्या 2617)। खुद ग़ैर-मुस्लिमों को दावत दी है। उन्हें अपना मेहमान बनाया है। (अद दारुल मंशूर: 1815)। अपने साथियों को बुजुर्ग ग़ैर-मुस्लिमों के कफ़न-दफ़न की व्यवस्था करने का आदेश दिया है। (आला अल सुनन, 2828), और ग़ैर-मुस्लिम बीमारों का हाल-चाल मूछने उनके पास गये हैं।

(सही बुखारी, हदीस संख्या 5657)

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) की पाक जीवनी की रौशनी में फ़क़ीहों ने ग़ैर-मुस्लिमों के बारे में जो आदेश दिये हैं, उनमें से कुछ ये हैं:

☆ मजूसी के घर का हर प्रकार का खाना जायज़ है, सिवा ज़बीहा के।

☆ मुसलमान और मुश्रिक रिश्तेदारों के साथ अच्छा बर्ताव करना दुरुस्त है। वह नज़दीक का हो या दूर का, ज़िम्मी हो या शत्रु देश का नागरिक हो।

☆ मुसलमानों के लिए ईसाई पड़ोसी से हाथ मिलाना जायज़ है।

☆ यहूदी और ईसाई रोगियों का हाल-चाल पूछने में कोई हर्ज नहीं।

☆ जब किसी गैर-मुस्लिम की मृत्यू हो जाए तो उसके सगे-सम्बन्धियों से निम्नलिखत बात कही जाए।

أَخْلَفَ اللَّهُ خَيْرًا مِنْهُ وَأَصْلَحَكَ

अल्लाह तुमको इसका अच्छा बदल दे और तुम्हारी हालत को बेहतर कर दे।

(हिन्दिया: 5384)

**पढने पढाने का सम्बन्ध :**

गैर-मुस्लिमों से पढना पढाना भी दुरुस्त है। अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने फ़रमाया:

“الْحِكْمَةُ ضَالَّةُ الْمُؤْمِنِ”

“ज्ञान और विवेक मोमिन की खोयी हुई पूंजी है।”

(तिर्मिजी, अन अबू हुरैरा (रज़ि०) हदीस संख्या: 2687)

अतएव बद्र के युद्ध में कैदियों में जो लोग पढना लिखना जानते थे, आप (सल्ल०) ने उनका फिदिया यही सुनिश्चित किया कि वे दस मुसलमान बच्चों को पढना लिखना सिखा दें। इस लिए पढने पढाने के कुक़द्दस रिश्ते में धर्म के आधार पर को भेद-भाव जायज़ नहीं है।

अलबत्ता सामाजिक सम्बन्धों में इस बात का ख्याल रखना ज़रूरी है कि इस्लाम में चाल-ढाल और रस्मों रिवाज आदि में इस बात को पसन्द किया है कि मुसलमान अपनी पहचान बनाये रखें और अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को खोने न दें। अतएव आप (सल्ल०) ने फ़रमाया:

لَيْسَ مِنْنا مَنْ تَشَبَّهَ بِغَيْرِنَا

“जो दूसरों की कापी और भेष-भूसा अपनाए, वह हम में से

नहीं” ।

(तिरमिज़ी, हदीस संख्या: 2695)

इसी लिए आप (सल्ल०) ने सलाम का तरीक़ा, दाढी और हेयर स्टाइल आदि में इस बात को पसन्द नहीं किया है कि मुसलमान अपनी पहचान खो दें ।

### आर्थिक सम्बन्ध:

आर्थिक सम्बन्धों के सिलसिले में भी मुसलमानों और ग़ैर-मुस्लिमों के बीच कोई अन्तर नहीं है । नुबूवत के बाद भी अल्लाह के रसूल (सल्ल०) को अबू सुफ़ियान और जुबैर बिन मतअम के साथ लेन-देन का उल्लेख मौजूद है । उसी तरह खैबर पर विजय प्राप्त करने के बाद आप (सल्ल०) ने वहां की ज़मीनों को यहूदियों के ही क़ब्ज़े में रहने दिया और उनसे बुराई पर मामला तय कर लिया । जिसका बुखारी शरीफ़ और हदीस की दूसरी किताबों में उल्लेख मौजूद है ।

मुसलमानों के लिए यह बात दृरुस्त है कि वह किसी ग़ैर-मुस्लिम के यहां नौकरी करें । अताएव हज़रत अली (रज़ि०) ने एक यहूदी के यहां मज़दूरी की । हदीस की किताबों में इसका उल्लेख मौजूद है ।

(कन्ज़ुल आमाल, ३३२१)

हज़रत खब्बाब (रज़ि०) लोहारी का कला जानते थे । उन्होंने आस बिन वायल के लिए काम किया । इसका उल्लेख भी हदीस की किताबों में मिलता है ।

“خَبَابٌ قَالَ كُنْتُ رَجُلًا قَيْنًا فَعَمِلْتُ لِلْعَاصِ بْنِ وَائِلٍ”

(बुखारी, हदीस न० 2375, मुस्लिम हदीस न० 7062)

उसी तरह यह बात भी सही है कि मुसलमान गैर-मुस्लिमों को अपने यहां नौकरी का अवसर दें। अरब में सड़कों का कोई खास व्यवस्था न भी और पूरा अरब क्षेत्र रेत से ढका हुआ था। इसी लिए रास्ते की पहचान मुश्किल थी। और जिन लोगों को पहचान नहीं होती थी वह यात्रा में किसी राह बताने वाले को साथ ले जाते थे। उनको 'मार्ग दशर्क' या 'दलील' कहा जाता था।

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने जब मदीना की ओर जिरत फ़रमाया तो एक मुशिरक को अपने लिए उजरत देकर साथ रखा।

(अहकाम, अहलुल जिम्मा: 207)

इसलिए फ़कीह इस बात पर सहमत हैं कि मुसलमान गैर-मुस्लिम को अपने यहां नौकर रख सकते हैं।

“يجوز أن يكون الأجير ذميا والمستأجر مسلما بلا خوف”

(अल-मौसूआ फ़िक्हिया, 105)

अतएव मुस्लिम शासन-काल में गैर-मुस्लिम लोगों बड़े ऊंचे और महत्वपूर्ण पदों पर आसीन हरे। हज़रत अमीर मुआविया (रज़ि०) के ज़माने में हम्मस का फ़ाइर्नाशियल कमिश्नर हाकिम इब्न असाम नाम का एक ईसाई था।

अब्दुल मलिक बिन मरवान का क्रातिल इब्न सरज़ून भी ईसाई था। उस क्रातिल के महत्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सलतनत के फ़रमान लिखना उसी की जिम्मेदारी थी। और अल्लामा शिबली (रह०) के अनुसार तो वह प्रधान मंत्री के बराबर, या न० 2 ख़्याल किया जाता था।

अब्बासी दौर में अबू इस्हाक़ साबी भी उसी महत्वपूर्ण पर पद आसीन था। सलतनत वेलम के ताजदार अज़दुद दौला जैसे महान शासक का प्रधान मंत्री भी एक ईसाई था जिसका नाम नसर बिन हारून था।

उपरोक्त सभी शासक न केवल अपनी शक्ति और शासन समता में प्रसिद्ध थे बल्कि मज़हब से भी उनका खास ताल्लुक़ था लेकिन मज़हब से उनका लगाव ग़ैर-मुस्लिम भाइयों से सलतनत के महत्वपूर्ण पदों पर सेवा लेने में रुकावट नहीं बना।

(मक़ालाते शिब्ली, 217-219)

### **राजनैतिक सम्बन्ध:**

इंसान जहां रहता है वहां के राजनीतिक परिस्थितियों से बेताल्लुक़ नहीं रह सकता, क्योंकि राजनीतिक उतार चढ़ाव का प्रभाव जीवन के तमाम क्षेत्रों पर पड़ता है। और बड़ी हद तक समाज का अम्नों अमान भी इससे प्रभावित होता है।

अतएव इस्लाम में मुसलमानों और ग़ैर-मुस्लिमों के बीच राजनीतिक सम्बन्ध की गुंजाइश रखी गयी है। राजनीति का उद्देश्य देश में क़ानून का शासन क़ायम करना और उसे स्थायित्व प्रदान करना है। अल्लाह के रसूल (सल्ल०) जब इस दुनिया में आए उस समय उस क्षेत्र में कोई स्थायी हुकूमत मौजूद नहीं थी। अलबत्ता क़बायली रिवायतों और क़ानूनों के अनुसार सुरक्षा हुआ करती थी और लोगों के बीच आपसी ताल्लुक़ात बने रहते थे।

### **राजनीतिक भागीदारी:**

उसी ज़माने में क़क्का में एक घटना घटी। मक्का के एक व्यक्ति ने



एक बाहर के आदमी का हक़ देने से इन्कार कर दिया। चूंकि वह आदमी मक्का का नहीं था और कक्का में उसके क़बीले के लोग भी नहीं रहते थे, इस लिए उसके लिए यह संभव न था कि ताक़त के ज़ोर पर अपना हक़ हासिल कर पाता।

उस ग़रीब ने काबा के अहाते में मक्का वायियों को अपनी बिप्ता सुनायी और न्याय की गुहार लगायी। गुहार सुनकर कुछ लोगों ने अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ उसकी मदद करने की ठानी और अब्दुल्लाह बिन जदआन के मकान पर उनकी एक आपात बैठक हुई। आप (सल्ल०) भी उसमें शामिल थे। और इस तरह “हल फ़ुल फ़ुजूल” नाम से एक संगठन का गठन हुआ।

इस संगठन का उद्देश्य न्याय स्थापित करना, जुल्म को रोकना, और ज़ालिम के खिलाफ़ संघर्ष करना, आदि था। यह घटना नुबूवत से पहले की है। लेकिन अल्लाह के रसूल (सल्ल०) को यह क़ाम इतना पसंद आया कि आप (सल्ल०) ने फ़रमाया:

“यदि मुझे आज भी बुलाया गया तो मैं उसपर लब्बैक कहूंगा”।

(अल बदाया वल निहाया, २२९१)

किसी बात पर विवाद हो गया। जिसमें वलीद की ज़्यादती थी। हज़रत हुसैन (रज़ि०) ने इस सिलसिले में उसी हवाले से लोगों की मदद चाही। एक के बाद एक कई सहाबियों ने इसपर लब्बैक कहा और अन्ततः वलीद अपने इरादे त्यागने पड़े।

(सीरत इब्ने हिशाम, ११३५)

कयह घटना इस बात को आधार उपलब्ध कराता है कि

राजनीतिक संघर्ष में मुसलमान और गैर-मुस्लिम एक दूसरे के साथ आ सकते हैं और राजनीतिक सम्बन्धों में उसूलों की बुनियाद पर गैर-मुस्लिमों को सहयोग दिया जा सकता है और उससे सहयोग लिया जा सकता है। और ऐसे राजनीतिक सगठनों में जो खालिस मुसलमानों की न हो, मुसलमान शरीक हो सकते हैं।

कुरआन मजीद ने हज़रत यूसुफ़ (अलै0) की घटना का विस्तार से उल्लेख किया गया है। जिसमें उस समय मुशिरकों की ही हुकूमत थी। हज़रत यूसुफ़ (अलैहि0) ने राष्ट्रिय हितों और मस्लिहतों को सामने रखते हुए वित्त मंत्रालय की मांग की थी:

“قَالَ اجْعَلْنِي عَلَى خَزَائِنِ الْأَرْضِ”-

“इस यू-भाग के खज़ानों पर मुझे नियुक्त कर दीजिए। निश्चय ही मैं रसक और जानकार हूँ।”

(कुरआन, 12: 55)

हज़रत यूसुफ़ (अलै0) की इच्छा पूरी हुई। और उन्होंने इस कर्तव्य बुहत ही अच्छी तरह अंजाम दिया। इससे मालूम हुआ कि ऐसी सत्ता में भागीदार हुआ जा सकता है जिसमें गैर-मुस्लिमों का वर्चस्व हो।

### न्याय संगत क़ानूनों का पालन

गैर-मुस्लिमों के साथ मुसलमानों के राजनीतिक सम्बन्ध दो उसूलों पर आधारित होने चाहिए, पहला वे क़ानून जो न्याय संगत हों। क्योंकि जब आप किसी देश की नागरिकता स्वीकार करते हैं तो वह एक प्रकार से उसकी निष्ठा और फ़रमां बरदारी का इक़रार है। यह एक प्रकार का संकल्प है जो हमने देश के साथ किया है। अल्लाह तआला का फ़रमान है

कि अहद को पूरा करो।

”أَوْفُوا بِالْعُقُودِ“

“ऐ ईमान लाने वालो! प्रतिबन्धों (प्रतिज्ञाओं, समझौतों, संकल्पों आदि) का पूर्णरूप से पालन करो”।

(कुरआन, 5: 1)

एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि अपने वादों को निभाओ। यानी संधियों और वादों को हर हाल में निभाओं। क़ानूनों को तोड़ना इस्लाम में जायज़ नहीं है। शर्त यह है कि वह न्याय के विरुद्ध न हो।

यह बात नज़र में रहनी चाहिए कि इस्लाम में संधियों एवं समझौतों को ऐसा महत्व हासिल है कि उनके कारण कुछ आम उसूलों को भी अनदेखी करनी पड़ती है। अतः क़ुरआन मजीद में फ़रमाया गया है:

إِنَّ الَّذِينَ آمَنُوا وَهَاجَرُوا وَجَاهَدُوا بِأَمْوَالِهِمْ وَأَنْفُسِهِمْ فِي سَبِيلِ اللَّهِ ،  
وَالَّذِينَ آوَوْا وَنَصَرُوا أُولَئِكَ بَعْضُهُمْ أَوْلِيَاءُ بَعْضٍ ، وَالَّذِينَ آمَنُوا وَلَمْ  
يُهَاجِرُوا مَا لَكُمْ مِنْ شَيْءٍ حَتَّى يُهَاجِرُوا ، وَإِنِ اسْتَنْصَرُوكُمْ  
فِي الدِّينِ فَعَلَيْكُمُ النَّصْرُ إِلَّا عَلَى قَوْمٍ بَيْنَكُمْ وَبَيْنَهُمْ مِيثَاقٌ .

“जो लोग ईमान लाए और उन्होंने हिजरत की और अल्लाह के मार्ग में अपने मालों और अपनी जानों के साथ जिहाद किया और जिन लोगों ने उन्हें शरण दी ओर सहायता की, वही लोग परस्पर एक दूसरे के संरसक मित्र है। रहे वे लोग जो ईमान लाए, किन्तु उन्होंने हिजरत नहीं की, उसे तुम्हारा संरक्षण और मित्रता का कोई सम्बन्ध नहीं है, जब तक कि वे हिजरत न करें, किन्तु यदि वे धर्म के मामले में तुमसे सहायता

मांगे तो तुम पर अनिवार्य है कि सहायता करो, सिवाए इसके कि यह सहायता किसी ऐसी क्रौम के मुकाबले में हो जिससे तुम्हारी कोई संधि हो।”

(कुरआन, 8: 72)

यहां अल्लाह तआला ने गैर-मुस्लिम बहुसंख्यकों के साथ ज़िन्दगी गुज़ारने वाले मुसलमानों की मदद के बारे में फ़रमाया है कि शर्त यह है कि तुम्हारे और उनके बीच पहले से कोई संधि मौजूद न हो। स्वयं अल्लाह के रसूल (सल्ल०) के जीवन में भी इसकी मिसालें मिलती हैं। अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने फ़रमाया है कि:

“मुसलमानों की शान यह है कि वे दूसरे मुसलमान पर जुल्म भी न करें और उसपर जुम्ल होता हुआ भी न छोड़ें”।

लेकिन सुलह हुदैबिया के वसर पर जब हज़रत अबू जिन्दल (रज़ि०) जंज़ीर में जकड़े हुए खून में लहुलुहान होकर आए और मुसलमानों से यह गुहार लगायी कि वे उन्हें अपने साथ मदीना ले चलें और आप (सल्ल०) की इच्छा बल्कि अपील के बावजूद मक्का वासी इसके लिए तैयार नहीं हुए तो आपने उन्हें साथ लेने की ज़िद नहीं की और उन्हें हिदायत की कि धैर्य से काम लो, अल्लाह तुम्हारे लिए कोई रास्ता निकालेंगे। इस तरह आप (सल्ल०) ने हज़रत अबू जिन्दल (रज़ि०) की गुहार और उस आजमाइश की तुलना में सुनिश्चित की गयी संधि पर अमल को वरीयता दी।

उसी तरह बद्र के युद्ध में मुसलमानों के पास सेनिकों की संख्या कम थी और एक-एक सैनिक की बड़ी अहमियत थी। उसी बीच हज़रत

हुजैफ़ा बिन यमान और उनके पिता मक्का वालों की सेना की ओर से आये। मक्का वालों ने उन्हें गिरफ़्तार कर लिया और इस शर्त पर छोड़ा कि वे जिहाद में मुसलमानों के साथ शामिल न हों। फिश््र ये लोग अल्लाह के रसूल (सल्ल०) की सेवा में उपास्थित हुए और जिहाद में जाने की अनुमति चाही।

लेकिन अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने उन्हें यह कहकर जिहाद में शरीक होने से मना कर दिया कि तुम अपना वादा पूरा करो अल्लाह हमरी मदद करेगा।

इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि ग़ैर-मुस्लिमों के साथ सुनिश्चित किये गये संधियों को कितना महत्व हासिल है।

यानी जब हम किसी देश की नागरिकता स्वीकार करते हैं तो यह उस देश के क़ानूनों की पाबन्दी का अहद होता है और संविधान के ज़रिया हम केवल हुकूमत से ही नहीं जुड़ते बल्कि देश के समस्त नागरिकों के साथ भी हम एक समझौते से बंध जाते हैं। इस लिए हम पर राष्ट्रीय क़ानूनों पर चलना न केवल क़ानून की दृष्टि से अनिवार्य है बल्कि शरई क़ानून के तहत भी वाजिब है। केवल शर्त यह है कि वह इस्लामी शरीअत से न टकराता हो।

### **अत्याचार का विरोध**

राजनीतिक भागीदारी की दूसरी बुनियाद अत्याचार का विरोध और उसे रोकने के लिए आपसी सहयोग है। क़ुरआन मजीद में उनके स्थानों पर बुराई को रोकने का आदेश दिया गया है। हर प्रकार की बुराई जिसमें जुल्म व अत्याचार भी शामिल है।

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने मुन्कर को रोकने के तरीके के सिलसिले में यह उसूल बताया है कि क़ानून के दायरे में रहते हुए शक्ति का इस्तेमाल कर सकता हो तो उसका इस्तेमाल करे। यदि शक्ति का इस्तेमाल नहीं कर सकता तो जुबान से उसके खिलाफ विरोध दर्ज कराये और यदि जुबान के इस्तेमाल भी न कर सकता हो तो दिल से उसको बुरा माने और दिल में यह प्रण करे कि जब भी संभव होगा, वह जुल्म को रोकने की कोशिश करेगा।

مَنْ رَأَى مِنْكُمْ مُنْكَرًا فَلْيُغَيِّرْهُ بِيَدِهِ، وَمَنْ لَمْ يَسْتَطِعْ فَبِلِسَانِهِ، وَ  
مَنْ لَمْ يَسْتَطِعْ فَبِقَلْبِهِ، وَذَلِكَ أضعفُ الإِيمَانِ-

“तुम में से जो व्यक्ति किसी बुराई को देखे तो चाहिए कि अपने कुव्वते बाजू से उसे बदलने की कोशिश करे, उसका सामथ्य न रखता हो तो जुबान से रोके और उसकी भी ताक़त न रखता हो तो दिल से बुरा समझे और यह ईमान का कमतर दर्जा है”।

(मुस्लिम, हदीस संख्या: 49)

‘कुव्वते बाजू’ से अभिप्रेत शक्ति है। इस समय ‘वोट देना’ और शान्तिपूर्ण विरोध प्रदर्शन भी एक ताक़त है। इसी तरह जुबान से बुराई को रोकने का ज़रिया जुल्म के खिलाफ़ विरोध करना भी शामिल है।

इसी लिए क़ुरआन मजीद में बुरी बात को जुबान पर लाने और खल्लम खुल्ला उसका ऐलान करने को मना किया है। लेकिन जुल्म के खिलाफ़ आवाज़ बुलन्द करने की अनुमति दी गयी है।

لَا يُحِبُّ اللهُ الْجَهْرَ بِالسُّوءِ مِنَ الْقَوْلِ إِلَّا مَنْ ظَلَمَ-

“अल्लाह बुरी बात खुल्लम- खुल्ला कहने को पसंद नहीं करता,

मगर उसकी बात और है जिस पर जुल्म किया गया हो। अल्लाह सब कुछ सुनता, जानता है”।

(कुरआन, 4: 148)

हदीस में आपत्ति दर्ज कराने के और भी तरीके बताये गये हैं।

(देखिए मजमा-अल ज़वायद, 8120, बाब माजाज़ फ़ी अज़ल- जारी)

अतः मुसलमानों और ग़ैर-मुस्लिमों के बीच राजनीतिक भागदारी दुरुस्त है। अलबत्ता राजनीतिक भागीदारी खुद मुसलमानों और मुसलमानों के बीच हो या मुसलमानों और ग़ैर-मुसलमों के बीच हो, उसका उद्देश्य केवल सत्ता में साझेदारी न हो। बल्कि न्याय स्थापित करना और जुल्म को रोकना अपेक्षित हो।

### **धार्मिक सम्बन्ध**

मुसलमानों और ग़ैर-मुस्लिमों के बीच ताल्लुकात के सिलसिले में सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में इस्लामी शिक्षाओं पर विचार करने से पता चलता है कि धर्म के मामले में दो बातें बुनियादी महत्व रखती हैं। अपने दीन पर जमे रहना और दूसरों की धार्मिक भावनाओं का एहतियार करना।

### **इस्लामी शरीयत पर अमल**

मुसलमानो जहां कहीं भी हों मुस्लिम देशों में या ग़ैर-मुस्लिम देशों में दीन के चार विभागों में उनके लिए शरई क़ानून का पालन जरूरी है।

- 1- आस्था (अक़ीदा)
- 2- इबादत
- 3- व्यक्तिगत व्यवहार

#### 4- मामलात

आस्था से अभिप्रेत व आदेश हैं, जिनका ताल्लुक दिल और अन्तरात्मा है। जैसे तौहीद (एकेश्वरवाद), रिसालत, आखिरत आदि का यक्रीन आदि।

इबादत से अभिप्रेत वे आदेश हैं जिनका ताल्लुक सीधे खुदा और बन्दे के आपसी सम्बन्ध से है। जैसे नमाज़, रोज़ा आदि।

व्यक्तिगत व्यावहार से अभिप्रेत निकाह, तलाक़ के अलावा मीरास, वसीयत, और सगे-सम्बन्धियों के अधिकार एवं कर्तव्य आते जाते हैं।

मामलात से अभिप्रेत मालो-दौलत की बुनियाद पर दो आदमियों के ताल्लुकात और समझौते हैं। जैसे व्यापार इजारा, हिबा, दान आदि। सूद और जुवा जैसे हराम मामले भी इसी के तहत आते हैं।

ये सारे क़ानून वे हैं कि चाहे मुस्लिम बहुल राष्ट्र हो या ग़ैर-मुस्लिम बहुल राष्ट्र सत्ता मुसलमानों के हाथ में हो या न हो, मुसलमानों के लिए उन क़ानूनों में इस्लामी शरीअत पर चलना वाजिब है।

जो क़ानून इज्तिमाई नवईयत के हों, या अपराध और सज़ा से जुड़ी हों, जैसे हुदूद, क्रिसास, शासन व्यवस्था आदि ये शरई क़ानून वहीं लागू होंगे जहां मुसलमान बहुसंख्यक हों और सत्ता उनके हाथ में हों।

अतः ग़ैर-मुस्लिमों से ताल्लुकात उन क़ानूनों पर न चलने और उसे त्यागने की क़ीमत पर नहीं होने चाहिए। इस सिलसिले में किसी बदलाव को कुबूल करने की मांग अपने आप में अनुचित है। क्योंकि



मुसलमानों के उन पर अमल करने और न करने से गैर-मुस्लिम भाइयों का न कोई लाभ है और न कोई नुकसान।

### अपनी पहचान की रक्षा

दूसरी ज़रूरी बात यह है कि इस्लाम मुसलमानों से इस बात की मांग करता है कि वह सभ्यता एवं संस्कृति की दृष्टि से अपने अस्तित्व को दूसरों के साथ गुम न करलें बल्कि अपनी पहचान को बनाये रखें। इसी लिए अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने दूसरी क़ौमों की ये भूषा अपनाने से मना किया है। हज़रत अम्र बिन आस (रज़ि०) से उल्लिखित है:

لَيْسَ مِنَّا مَنْ تَشَبَّهَ بغيرِنَا، لَا تُشَبَّهُوا بِالْيَهُودِ وَلَا بِالنَّصَارَى الْخ -

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने फ़रमाया: जो दूसरों की मुशाबेहत अख्तियार करे वह हममें से नहीं। यहूदियों और ईसाइयों से समरूपता अख्तियार न करो।

(तिर्मिज़ी, हदीस सं 6295)

इस समरूपता के चार दर्जे हो सकते हैं:

(अ) दूसरे क़ौमों के धार्मिक कर्मकांडों की नक़ल की जाए, जैसे मुसलमान सलीब या ज़न्नार पहनने लगे, या सिखों का कडा और कृपान इस्तेमाल करने लगे। फ़क़रीहों ने इसे कुफ़्र करार दिया है। मजूसी खास क्रस्म की टोपी पहना करते थे। फ़क़रीहों ने उस पर भी कुफ़्र का हुक्म लगाया है।

(मुलतक़त फ़िल फ़तावा अल-हन्फ़िया)

इसी तरह फ़क़रीहों के यह ज़िन्नर के बारे में भी यह व्याख्या मिलती है। भारत में 'कशक़ा' वह हिन्दुओं का कर्मकांड है।

(ब) गैर-मुस्लिमों के त्योहारों में भागीदारी, यह अगर यूं ही हो,

या उसका उद्देश्य रवादारी हो तो हराम है और यदि उनके प्रति रज़ामन्दी हो तो वह कूफ़र है।

”وَلَوْ وَضَعَ عَلَى رَأْسِهِ قَلَنْسُوَةَ الْمَجُوسِ كَفَرَ“-

(अल- मुलतक्रित: 245)

क्योंकि आदमी जिस मज़हब को न मानता हो, और अपने अक़्रीदे के अनुसार उसे सही न समझता हो, उसमें भाग लेना और उस पर खुशनूदी का इज़हार करना निफ़ाक़ की बात है। इस लिए इस्लाम न मुसलमानों के लिए इस बात को पसंद करता है कि वह ऐसा मुनाफ़िकाना रवैया अपनाए और न ग़ैर-मुस्लिमों से चाहता है कि इस्लामी तरीक़ा अपनाएं और मुसलमानों के धार्मिक त्योहारों में शरीक हों।

(स) तीसरा दर्जा सांस्कृतिक मेल-मिलात है। यानी ऐसी चाल-ढाल और पोशाक जो किसी खास क़ौम की पहचान बन गया हो। और उसका धर्म से कोई ताल्लुक़ नह हो, को अपनाना जैसे भारत में ‘धोती पहनाा’। धोती का धर्म से कोई ताल्लुक़ नहीं हो लेकिन वह हिन्दू भाइयों की पहचान सी बन गयी है।

यदि किसी को धोती पहने हुए देखा जाए तो मन उसी तरफ़ जाता है कि वह हिन्दू है। ऐसी नक़ल या समरूपता मकरूह तहरीमी है। अल्लामा इब्ने तैमिया (रह0) ने इस पर विस्तार से रोशनी डाली है।

(देखिए, इक्ताज़ाउल सिराअतल मुस्तक़ीम, 194)

लेकिन नक़ल करने की इस जेहत में बदलाव आता रहता है। क्यांकि यदि कोई फैशन एक दौर में किसी क़ौम की पहचान बन गयी हो और बाद में इसका इस्तेमाल आम हो जाए और वह किसी खास धार्मिक

गिरोह की पहचान शेष न रह जाए तो फिर तो नक़ल की कैफ़ियत खत्म हो जायेगी और उसका इस्तेमाल औचित्य की हद में आ जायेगा।

हज़रत मौलाना अशरफ अली थानवी (रह0) ने कोट, पेन्ट के बारे में (इम्दादुल फ़तावा: 4268, सवाल न0 345) और हज़रत मौलाना मुफ़्ती किफ़ायतुल्लाह साह (रह0) ने सारी के बारे में यही लिखा है।

(किफ़ायतल मुफ़्ती 9161)

(द) जो चाल-ढाल और समारोह किसी खास धार्मिक गिरोह की पहचान नहीं है, या व्यवस्था, शासन व्यवस्था, निर्माण- कला, कारोबारी नज्मो नस्क्र व्यापारी तौर- तरीक़े आदि में ग़ैर-मुस्लिम भाइयों की कार्यशैली अपनाने में कोई हर्ज नहीं।

हज़रत उमर (रज़ि0) ने हिसाब- किताब के मामले में रोम और ईरान के तरीक़े को अपनाया था।

(अल-फ़ारूक़ मुकम्मल 2130)

आप (सल्ल0) ने अहज़ाब की जंग में हज़रत सलमान फ़ारसी (रज़ि0) के सुझाव पर फ़ारस के तरीक़े पर खन्दक़ खुदवायी थी।

(अल-बदाया वल- निहाया, 495)

यह इस बात पर दलील है कि ऐसे मामलों में ग़ैर मुस्लिम भाइयों के तजुर्बे से लाभ उठाने में कोई हर्ज नहीं।

नक़ल करने और मिलती जुलती सूरत बनाने से बचने का जो उसूली आदेश इस्लामी शरीअत में दिया गया है वह भेद भाव और तंगनज़री पर आधारित नहीं है। असल यह है कि पहचान की रसा अमल है।

विचार कीजिए कि अल्लाह तआला ने इंसान की सूरत और आवाज़ एक दूसरे से अलग रखी है। इंसान के अन्दर अपनी पहचान की भावना इतनी प्रबल है कि हर राष्ट्र और हर क़ौम अपनी अलग पहचान बना कर रखना चाहती है। अपनी संस्कृति की रक्षा करना चाहती है। अपने झण्डे अलग रखती है। हर स्कूल अपना अलग यूनीफ़ार्म रखता है। विभिन्न विभागों के अलग-अलग यूनीफ़ार्म होते हैं। इस लिए अपनी पहचान बनाये रखने को निन्दनीय काम नहीं है। और न इसमें दूसरों की मुखलफ़त और उनके बारे में तंगनज़री है।

इस्लाम चाहता है कि मुसलमान अपनी पहचान बाक़ी रखें और जहां इस्लामी व्यवस्था लागू हो वहां ग़ैर-मुस्लिम भाइयों को भी इस बात की पूरी आज़ादी दी जाए कि वे अपनी धार्मिक एवं सांस्कृतिक पहचान के साथ ज़िन्दगी गुज़ारें।

### **दूसरे धर्मों का सम्मान**

धार्मिक सम्बन्धों की दूसरी बुनियाद दूसरे धर्मों का सम्मान और उनके धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप से बचना है। क़ुरआनी शिक्षाओं का निचोड़ एकेश्वरवाद (तौहीद) की दावत है। इस्लाम में तौहीद से ज़्यादा कोई चीज़ अपेक्षित नहीं और शिर्क से ज़्यादा कोई चीज़ निन्दनीय नहीं।

लेकिन इसके साथ साथ उसने बड़ी हद तक धार्मिक उदारता का सबक़ सिखाया है। क़ुरआन मजीद ने साफ़ कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को आस्था की स्वतंत्रता प्राप्त है। और किसी धर्म को स्वीकार करने के लिए ज़ोर ज़बरदस्ती और हिंसा जायज़ नहीं।

لَا إِكْرَاهَ فِي الدِّينِ قَدْ تَبَيَّنَ الرُّشْدُ مِنَ الْغَيِّ-

“धर्म के विषय में कोई ज़बरदस्ती नहीं। सही बात ना समझी की बात से अलग होकर स्पष्ट हो गयी है”।

(कुरआन, 2: 256)

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) को सम्बोधित करते हुए कहा गया है।

أَفَأَنْتَ تُكْرِهُ النَّاسَ حَتَّىٰ يَكُونُوا مُؤْمِنِينَ۔

“क्या आप लोगों को इस बात पर मजबूर कर देंगे कि वे ईमान लाएं”।

(कुरआन, 10: 99)

हज़रत उमर (रज़ि०) की एक मशहूर घटना है कि उन्होंने वस्क़ नाम के अपने एक गुलाम से बार-बार यह इच्छा व्यक्त की कि वह इस्लाम क़बूल कर ले। आप (रज़ि०) ने यह भी फ़रमाया कि यदि तुम इस्लाम क़बूल कर लो तो तुम्हें मुसलमानों की अमानत की कोई ज़िम्मेदारी सौंपूंगा। लेकिन वस्क़ हमेशा इन्कार करते रहे। हज़रत उमर (रज़ि०) हमेशा उसके जवाब में कहते, दीन में कोई ज़ब्र नहीं। यहां तक कि मरने के करीब हज़रत उमर (रज़ि०) ने उन्हें आज़ाद कर दिया।

(किताबुल अमवाल, 1154)

### धर्म पर चलने की आज़ादी

आस्था के अलावा ग़ैर-मुस्लिमों को अपने धर्म पर चलने की भी पूरी आज़ादी है। क़ुरआन मजीद ने साफ़ तौर पर आप (सल्ल०) की मुबारक ज़ुबान से मक्का के मुशिरकों को कहला भेजा:

”لَكُمْ دِينُكُمْ وَلِيَ دِينِ“۔

::तुम्हारे लिए तुम्हारा दीन है और मेरे लिए मेरा दीन”।

(कुरआन, 109:6)

एक और अवसर पर फ़रमाया:

“لَنَا أَعْمَالُنَا وَ لَكُمْ أَعْمَالُكُمْ”-

“हमारे लिए हमारे आमाल हैं, और तुम्हारे लिए तुम्हारे आमाल”

(क़ुरआन 42: 15)

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) की उदारता का हाल यह था कि नजरान के ईसाइयों का एक प्रतिमिनधिमंडल जब आपके सामने उपस्थित हुआ तो आप (सल्ल०) ने उनको उनके धर्मानुसार और उनके क़िब्ले की ओर मुख करके मस्जिदे नबवी में इबादत करने की अनुमति प्रदान की।

(अहकामुल ज़िम्मा 1316)

फ़कीहों ने लिखा है कि:

“यदि किसी मुसलमान की पत्नी यहूदी या ईसाई हो और उसकी आस्थानुसार किसी विशेष दिन रोज़ा रखना वाजिब हो, तो मुसलमान पति उसे रोज़ा रखने से बाज़ नहीं रख सकता यद्यपि वह उसके कारण अपनी जिंसी इच्छा पूरी करने के अधिकार से वंचित रहता है”।

(अहकाम अहलुल ज़िम्मा: 1316)

“उसी तरह यदि वह सलीब पहने या मुसलमान पति के घर में सलीब रखे तो उसे यह हक़ है और पति उसे रोक नहीं सकता”।

(अहकाम अहलुल ज़िम्मा: 1316)

यह भी ज़रूरी है कि दूसरे धार्मिक गिरोहों के धार्मिक भावनाओं को मज़रूह न किया जाए। और दूसरी क्रौमें जिन देवी-देवताओं की पूजा करती हों, उनको बूरा-भला न कहा जाए।

यद्यपि यह सर्वविदित है कि इस्लाम खुदा की ज़ात और उसकी

विशेषता में किसी की भागीदारी को जायज़ नहीं समझता। क्योंकि यह सच्चाई के विपरीत बात है लेकिन फिर भी धार्मिक उदारता की मांग है कि उन बातिल माबूदों के बारे में अश्लील बातें न की जाएं। अल्लाह तआला फ़रमाता है:

لَا تَسُبُّوا الَّذِينَ يَدْعُونَ مِنْ دُونِ اللَّهِ

“अल्लाह के सिवा जिन्हें ये पुकारते हैं, तुम उनके प्रति अपशब्द का प्रयोग न करो। न हो कि वे हद से आगे बढ़कर अज्ञानवश अल्लाह के प्रति अपशब्द का प्रयोग करने लगें।”।

(क़ुरआन, 6: 108)

### इबादतगाहों का सम्मान

उसी तरह इबादतगाहों के मामलों में भी तमाम धर्मावलंबियों की भावनाओं का ख़्याल रखने की शिक्षा दी गयी है। क़ुरआन मजीद ने जहां इबादतगाहों को ध्वस्त करने की निन्दा की गयी है वहां मुसलमानों की मस्जिदों से पहले यहूदियों और ईसाइयों के गिरजों का उल्लेख किया गया है।

(क़ुरआन 22: 40)

इससे ज़ाहिर है कि इबादतगाहों - चाहे किसी धर्म की हों उनका सम्मान ज़रूरी है।

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने बनू नजरान से जो संधि की, उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि उनकी इबादतगाहें ध्वस्त नहीं की जायेंगी और न धार्मिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप किया जायेगा।

(अबू - दाऊद, हदीस संख्या: 3041)

हज़रत अबू बक्र सिद्दीक़ (रज़ि०) के ख़िलाफ़त के दौर में हज़रत ख़ालिद बिन वलीद (रज़ि०) के ज़रिया हेरा का इलाक़ा फ़तह हुआ, और हेरा वालों के लिए जो दस्तावेज़ तैयार किये गये उसमें भी यह स्पष्ट कर दिया गया था कि उनके चर्च और गिरजे श्वस्त नहीं किये जायेंगे।

(मौसुअतुल ख़राज़: 143)

इस सिलसिले में ख़िलाफ़ते राशिदा और बाद के मुस्लिम दौर में भी इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनका उल्लेख विस्तार के कारण यहां नहीं दिया जा रहा है। लेकिन इससे साफ़ ज़ाहिर है कि इस्लाम एकेश्वरवाद के सिलसिले में जितना संवेदनशील है, ग़ैर-मुस्लिमों के धार्मिक एवं सामाजिक समस्याओं के प्रति उतना ही उदार है। अफ़सोस यह है कि उसपर ग़लतफ़हमियों की तह पर तह जमती जा रही है।

### जिहाद - वास्तविकता और ग़लतफ़हमी

मुसलमानों और ग़ैर मुस्लिमों के आपसी सम्बन्धों पर शक और सन्देह के कांटे जिस शीर्षक से बोये जाते हैं, वह हैं जिहाद।

‘जिहाद’ की ऐसी तस्वीर पेश की जाती है कि मानो हर मुसलमान तलवार थामे घर से निकलता है और जिस ग़ैर-मुस्लिम को पाता है, उसकी गदरन उड़ा देता है। इसी लिए आजकल आतंकवाद और जिहाद को समानार्थक शब्द समझ लिया गया है। हालांकि जिहाद एक क़ानूनी अमल है जबकि आतंकवाद एक ग़ैर क़ानूनी अमल है।

فَاتِلُوا فِي سَبِيلِ اللَّهِ الَّذِينَ يُفَاتِلُونَكُمْ وَلَا تَعْتَدُوا إِنَّ اللَّهَ لَا يُحِبُّ  
الْمُعْتَدِينَ-



“और अल्लाह के मार्ग में उन लोगों से लड़ो जो तुमसे लड़ें, किन्तु .ज्यादती न करो। निस्सन्देह अल्लाह .ज्यादती करने वालों को पसन्द नहीं करता।”

(कुरआन, 2: 190)

उपरोक्त आयत में .ज्यादती न करने का उल्लेख किया गया है। .ज्यादती से क्या अभिप्रेत है?

पहला यह कि जो लोग तुम से न लड़ें, तुम भी उनसे युद्ध न करो। दूसरे यह कि जब युद्ध हो तो मानवीय मूल्यों और सभ्य समाज के कानूनों का पालन करो। औरतों, बच्चों, बूढ़ों और अपंगों, युद्ध में भाग न लेने वालों और धार्मिक नेताओं पर हाथ न उठाओ। अल्लाह के रसूल (सल्ल०) और खुलफ़ा-ए-राशिदीन ने युद्ध में उन लोगों को निशाना बनाने से मना फ़रमाया है।

(सुनन अबू उसऊउ हदीस सं० 2165)

एक और अवसर पर कुरआन मजीद न उन लोगों का उल्लेख करते हुए, जिनसे जिहाद करने का आदेश है, कहा गया है:

الَّذِينَ كَفَرُوا وَصَدُّوا عَنْ سَبِيلِ اللَّهِ-

“जिन लोगों ने इन्कार किया और अल्लाह के मार्ग से रोका”।

(कुरआन, 47:1 )

इससे साफ़ ज़ाहिर है कि केवल कुफ़्र की वजह से जिहाद का आदेश नहीं दिया गया बल्कि कुफ़्र के साथ साथ उनकी जुल्मो-ज्यादती के कारण जिहाद का आदेश दिया गया।

कुरआन ने इसी बात को बहुत ही विस्तार से एक से अधिक

अवसरों पर बयान किया है। जो ग़ैर-मुस्लिम मुसलमानों से लड़ाई-झगडा न करें और सुलह चाहे, मुसलमानों को भी उनकी और सुलह का हाथ बढ़ाना चाहिए। अतएव अल्लाह तआला फ़रमाता है:

فَإِنْ اعْتَرَفْتُمْ بِالْإِسْلَامِ فَلَكُمْ أُسُوفُكُمْ مِنْكُمْ وَمَا جَعَلَ اللَّهُ  
لَكُمْ عَلَيْهِمْ سَبِيلًا

“यदि वे तुम से अलग रहें और तुम से न लड़ें और संधि के लिए तुम्हारी तरफ़ हाथ बढ़ाएं तो उनके विरुद्ध अल्लाह ने तुम्हारे लिए कोई रास्ता नहीं रखा है”।

(कुरआन, 4: 90)

وَإِنْ جَنَحُوا لِلسَّلَامِ فَاجْنَحْ لَهَا

“और यदि वे संधि और सलामती की ओर झुकें तो तुम भी इसके लिए झुक जाओ और अल्लाह पर भरोसा रखो”।

(कुरआन, 8: 61)

इन आयतों से यह बात पूरी तरह वाज़ेह हो जाती है कि युद्ध उग्रवादियों से है। न कि सुलह चाहने वाले अमन पसन्दों से। बल्कि यदि किसी ग़ैर-मुस्लिम गिरोह से शान्ति संधि हो, और वह किसी मुस्लिम गिरोह से लड़ पड़े, तो उनके खिलाफ़ भी हिंसक कार्रवाई करना और संधि तोड़ लेना सही नहीं। इस सिलसिले में कुरआन मजीद की व्याख्या मौजूद है:

وَإِنْ اسْتَنْصَرُواكُمْ فِي الدِّينِ فَعَلَيْكُمْ النَّصْرُ إِلَّا عَلَى قَوْمٍ بَيْنَكُمْ  
وَبَيْنَهُمْ مِيثَاقٌ وَاللَّهُ بِمَا تَعْمَلُونَ بَصِيرٌ

“यदि वे धर्म के मामले में तुमसे सहायता मांगें तो तुम पर अनिवार्य है कि सहायता करो, सिवाय इसके कि यह सहायता किसी ऐसी क्रौम के मुक़ाबले में हो जिसेस तुम्हारी कोई संधि हो, अल्लाह उसे देख रहा है”

(क़ुरआन, 8: 727)

क़ुरआन मजीद के इन आयतों को सामने रखकर यह आंकलन किया जा सकता है कि जिहाद का आदेश किन लोगों के खिलाफ़ दिया गया है?

केवल उन लोगों से, जो मुसलमानों युद्ध करने पर तुले हुए हों। जिन लोगों से मुसलमानों की शान्ति सन्धि हो, या जो लोग निष्पक्ष हों, न उनसे युद्ध हो, और न उनसे कोई संधि हो, ऐसे लोगों से जिहाद का आदेश नहीं दिया गया है।

और यह बात ज़ाहिर है कि यह बिल्कुल इन्साफ़ के उसूल और तक्ज़ा के अनुसार है कि ज़ालिमों का पंजा थामा जाए और उन्हें जुम्ल से बाज़ रखा जाए। जो लागे मुसलमानों से युद्ध न करते हों और उन्हें मक्के के मुश्रिकीन की तरह अपने देश से पलायन करने पर मजबूर न कर रहें हों, उनके साथ युद्ध के बदले अच्छा सलूक करना चाहिए।

لَا يَنْهَكُمُ اللَّهُ عَنِ الَّذِينَ لَمْ يُفَاتِلُوكُمْ فِي الدِّينِ وَلَمْ يُخْرِجُوكُمْ مِنْ دِيَارِكُمْ أَنْ تَبَرُّوهُمْ وَتُقْسِطُوا إِلَيْهِمْ إِنَّ اللَّهَ يُحِبُّ الْمُقْسِطِينَ۔

“अल्लाह तुम्हें इससे नहीं रोकता कि तुम उन लोगों के साथ अच्छा व्यवहार करो और उनके साथ न्याय करो, जिन्होंने तुमसे धर्म के मामले में युद्ध नहीं किया और न तुम्हें तुम्हारे अपने घरों से निकाला।

निस्सन्देह अल्लाह न्याय करने वालों को पसन्द करता है”

(कुरआन, 60: 80)

### अल्लाह के रसूल (सल्ल०) की जीवनी और जिहाद

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) की मदनी जिन्दगी में मुसलमानों और गैर-मुस्लिमों के बीच टकराव की कुल 82 घटनाएं घटी हैं। और अधिकांश झड़पें मदीना के आस पास ही हुईं जो इस बात का स्पष्ट संकेत है कि इन झड़पों में मुसलमान हमलावर नहीं थे।

इन 82 झड़पों में दोनों पक्षों से कुल 1018 लोग काम आए और औसत एक युद्ध में ग्यारह जानें गयीं। यही वह संख्या है जिसके कारण इस्लाम के बारे में यह गलतफ़हमी फ़लायी जाती है कि इसे तलवार के ज़ोर से फ़ैलाया गया है। जबकि महाभारत के पवित्र धर्म युद्ध में लाखों लोग स्वयं हिन्दू धार्मिक स्रोतों के अनुसार मारे गये। और ईसाई धार्मिक अदालत के आदेश पर एक करोड़ बीस लाख लोगों को सज़ा-ए-मौत दी गयी। और उनमें से एक बड़ी संख्या उन लोगों की थी जिनको ज़िन्दा जला दिया गया।

लेकिन अफ़सोस कि पश्चिमी क़ौमों जिनका पूरा इतिहास ही हिंसा, लूट-मार और साम्राज्यवाद की दास्तानों से भरी हुई है, उन्होंने चोर माचाये शोर, की मिसाल को सही साबित करते हुए बड़ी होशियारी के साथ मुसलमानों के इतिहास पर लिख दिया।

बू-ए-खूं आती है  
इस क़ौम के अफ़सानों  
से

## जिज़िया की वास्तविकता

आज कल विहिप के लोग इस्लाम को बदनाम करने के लिए जिज़िया के समले को भी उठा रहे हैं। लेकिन यह कोई आपत्ति नहीं है। पहले भी मुस्तशरेकीन की ओर से इस प्रकार के सवालात उठाये जाते रहे हैं। बुद्धिजीवियों ने विस्तार से इसका जवाब दिया है जिसका सार यह है कि जिज़िया से अभिप्रेत वह खुसूसी टैक्स है जो इस्लामी हुकूमत ग़ैर-मुस्लिम प्रजा से उनकी जान व माल की रक्षा के तौर पर वसूल करती हैं

ज्ञात हो कि मुसलमानों पर ज़कात वाजिब है जिसे हुकूमत वसूल करती है। यदि ग़ैर-मुस्लिमों पर भी ज़कात देना अनिवार्य कर दिया जाता तो यह उन्हें एक इस्लामी अमल पर मजबूर करने के समान होता और उनकी धार्मिक स्वतंत्रता के खिलाफ़ होता। इस लिए उन पर अलग से एक टैक्स जिज़िया के नाम से लगाया गया।

जिज़िया उनकी जान व माल की रक्षा का मुआवज़ा है, यह उनके कुफ़्र की हालत में होने का तावान नहीं। यदि ऐसा होता तो महिलाओं, बच्चों, बूढ़ों, बीमारों, अपंगों, बेरोज़गारों, और उन सब से बढ़कर धार्मिक समुदाय यानी पादरी, पंडित आदि सभों के लिए अनिवार्य करार दिया जाता। लेकिन इन लोगों को जिज़िया से छूट दी गयी हैं।

(देखिए, अहकामुल ज़िम्मा, 1148)

इस लिए इसकी हैसियत केवल एक टैक्स की है, तावान की नहीं।

फिर इस जिज़िया की मात्रा भी कितनी कम और मामूली है?

कम आमदनी वालों के लिए 12 रिहम सालाना, औसत दर्जे की आमदनी वालों के लिए 24 दिरहम सालाना, और अधिक आमदनी वालों के लिए 48 दिरहम सालाना।

(बैहकी, 9329, हदीस न0 18685)

12 दिरहम 13 ग्राम से कम चांदी होती है। मौजूदा रेट के लिहाज से उसकी कीमत लगभग 265 रुपये के बराबर होती है।

आप लोग स्वयं विचार करें कि यदि कोई सरकार नागरिकों की सुरक्षा पर साल भर में इतना कम मुआवजा लेती है तो क्या यह ज्यादाती है? सच्चाई यह है कि यदि हमारी सरकार इतने पैसे लेकर देश के नागरिकों की सुरक्षा की व्यवस्था कर दे और उनके सुरक्षा की गारंटी ले ले, तो हम शुक्रगुजार होंगे। यह इस जिज़िया की हकीकत है, जिसको लेकर इस्लाम विरोधियों ने एक तूफ़ान खड़ा किया हुआ है। और इसको इस्लाम के खिलाफ़ जुल्म व ज्यादाती हिंसा और उदारता के विरोधी होने का नाम दिया गया है।

### ग़ैर-मुस्लिमों से दोस्ती

दूसरी ग़लतफ़हमी जो इस समय विश्व स्तर पर पायी जाती है, यह है कि इस्लाम ने ग़ैर-मुस्लिमों को दोस्त बनाने से मना किया है, क्योंकि अल्लाह तआला फ़रमाता है:

يَا أَيُّهَا الَّذِينَ آمَنُوا لَا تَتَّخِذُوا الْكَافِرِينَ أَوْلِيَاءَ مِنْ دُونِ الْمُؤْمِنِينَ،  
اتْرِيدُونَ أَنْ تَجْعَلُوا لِلَّهِ عَلَيْكُمْ سُلْطَانًا مُبِينًا۔

“ऐ ईमान लाने वालो! ईमान वालों से हटकर इन्कार करने वालों को अपना मित्र न बनाओ। क्या तुम चाहते हो कि अल्लाह का स्पष्ट

तर्क अपने विरुद्ध जुटाओ” ।

(कुरआन, 4: 144)

इस सिलसिले में विचार करने की बात यह है कि उससे तात्पर्य वह मुश्रिकीन हैं जो अल्लाह के रसूल (सल्ल०) के ज़माने में मुसलमानों से युद्ध कर रहे थे या क्रियादत्त तक आने वाले तमाम ग़ैर-मुस्लिम उसमें शामिल हैं?

कुरआन की व्याख्या और आयत के आगे-पीछे के मज़मून से पता चलता है कि उससे नबी के दौर के वे ग़ैर-मुस्लिम मुराद हैं जो मुसलमानों के साथ बहुत ही ज़ालिमाना रवैया रखे हुए थे। इस लिए कि एक तो कुरआन ने अक्सर ‘काफ़िर’ शब्द का अभिप्रेत मक्का के मुश्रिकों से लिया है। दूसरे स्वयं कुरआन मजीद में दूसरी जगहों पर इसकी व्याख्या की गयी है कि उन लोगों की दोस्ती मना है जिन्होंने मुसलमानों से युद्ध किया। उनको उनके देश से निकाला और उनके बेवतन करने में एक दूसरे की सहायता की। अतएव फ़रमाया गया है:

إِنَّمَا يَنْهَىٰكُمْ اللَّهُ عَنِ الَّذِينَ قَاتَلُوكُمْ فِي الدِّينِ وَأَخْرَجُوكُم مِّنْ دِيَارِكُمْ وَظَاهَرُوا عَلَىٰ إِخْرَاجِكُمْ أَن تَوَلَّوهُمْ ، وَمَن يَتَوَلَّهُمْ فَاُولَٰئِكَ هُمُ الظَّالِمُونَ .

“अल्लाह तुम्हें इससे नहीं रोकता कि तुम उन लोगों के साथ अच्छा व्यवहार करो और उनके साथ न्याय करो, जिन्होंने तुम से धर्म के मामले में युद्ध नहीं किया और न तुम्हें तुम्हारे अपने धरों से निकाला। निस्सन्देह अल्लाह न्याय करने वालों को पसन्द करता है” ।

(कुरआन, 60: 8)

इस आयत से साफ़ मालूम होता है कि उपरोक्त आयत में नबवी दौर के उन मुश्रिकों की दोस्ती से मना किया गया है जो मुसलमानों के साथ इन्तिहाई दर्जा के शत्रुता का रवैया अपनाये हुए थे।

आज भी जो लोग इस तरह का रवैया अपनायें उनके लिए निश्चित रूप से यही आदेश होगा। आम ग़ैर-मुस्लिमों के लिए यह आदेश नहीं है। खुद इस आयत पर ग़ैर कीजिए जिस में कहा गया है कि ग़ैर-मुस्लिमों को मुसलमानों की तुलना में और उनको छोड़कर दोस्त न बना लो।

फिर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि 'औलिया' बनाने से क्या अभिप्रेत है? आम दोस्तों को वली नहीं कहते हैं। वली ऐसे निकटतम व्यक्ति को कहा जाता है जिससे अत्यधिक क़ुर्बत हो। यहां तक कि कोई राज़ उससे राज़ न रहे। इसी लिए पिता, या दादा, या सरपरस्त को वली कहते हैं।

अतः उपरोक्त आयत का अभिप्रेत यह है कि मुसलमानों का राज़ ग़ैर-मुस्लिमों तक न चला जाए जो तुमसे युद्ध कर रहे हैं। और यह तो सर्वविदित है कि प्रत्येक देश अपने राज़ को गुप्त रखना चाहता है ताकि दुश्मन उससे लाभ न उठा सके। आम दोस्ती उससे अभिप्रेत नहीं है।

इस पर एक और तरह से विचार किया जा सकता है कि इस्लामी शरीअत में मुसलमानों को यहूदी और ईसाई महिलाओं से निकाह की अनुमति दी गयी है। इस लिए मुस्लिम समाज में ग़ैर-मुस्लिम मां और ग़ैर-मुस्लिम पत्नी का अस्तित्व संभव है। और यह बात मालूम है कि समस्त सम्बन्धों में सबसे ज्यादा मुहब्बत का रिश्ता मां और पत्नी का



होता है।

तो यदि ग़ैर-मुस्लिमों से मुहब्बत और दोस्ती मना होती तो उससे इस तरह का रिश्ता कैसे जायज़ होता?

इस तरह ग़ैर-मुस्लिमों को दोस्त बनाने से मनाही का ताल्लुक उन ग़ैर-मुस्लिमों से है जो केवल धर्मिक दृष्टि से मुसलमानों से विभेद न रखें, बल्कि उनका रवैया भी इस्लाम विरोधी हो। इसके अलावा दोस्ती से अभिप्रेत ऐसी दोस्ती है जो मुस्लिम देशों के गुप्त राज के खुल जाने की आशंका हो।

कुछ व्याख्याकारों के कथनों के अनुसार दूसरे धर्म के मानने वालों से दोस्ती उसके तौर तरीकों के अपनाने की वजह बन सकती है। आम दोस्ती मुहब्बत और ताल्लुक जो समाज के एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति से होती है उसमें कोई हर्ज नहीं है।

### करने की बातें

ज़रूरत इस बात की है कि मुसलमान ग़ैर-मुस्लिम भाइयों को ग़ैर-मुस्लिमों के बारे में इस्लाम की सच्ची शिक्षाएं, उसकी उदारता आदि से आगाह करें और खुद अपने रवैये और बरताव से साबित करें कि इस्लाम कोई उग्र और नाखादार धर्म नहीं है। बल्कि इंसानियत पसंद, आदमियत बवाज़ रहमदिल और खुले दिलो दिमाग वाला धर्म है। और उसकी ठंडी छांव न केवल मुसलमानों बल्कि पूरी इंसानियत के लिए रहमत है।

إن الدين عند الله الإسلام ، اللهم أرنا الحق حقا وارزقنا اتباعه ،

وأرنا الباطل باطلا وارزقنا اجتنابه .

